चतुर्थ अध्याय

निर्वचन के सिद्धान्त

चतुर्थ अध्याय

निर्वचन के सिद्धान्त

महर्षि यास्क ने अपने निरुक्त में निघण्टु-पदों के निर्वचन क्रम में चारों वेदों व उनके पद पाठों; तैत्तिरीय,मैत्रायणी, काठक आदि संहिताओं; ऐतरेय, गोपथ, कौषीतकी, शतपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थों; प्रातिशाख्यों तथा अनेकों भिन्न-भिन्न उपनिषदों के उद्धरण प्रस्तुत किए हैं । जिससे यह स्पष्ट है कि महर्षि यास्क अपने समय में उपलब्ध समस्त वैदिक वाङ्मय व उसके अङ्गों-उपाङ्गों से सुपरिचित थे । उन्होंने अपने समय में प्रचलित एवं पूर्ववर्ती विमर्श-सम्प्रदायों यथा – नैरुक्त, नैदान, वैयाकरण, याज्ञिक, ऐतिहासिक आदि के नामोल्लेख के साथ उनके आचार्यों तथा उनके मतों को भी यथास्थान प्रस्तुत किया है । इससे यह स्वतःसिद्ध है कि वे अपने पूर्ववर्ती आचार्यों तथा अपने समय के विभिन्न विषयों से सम्बन्धित अनेक आचार्यों के मत -मतान्तरों से भी भली-भाँति परिचित थे ।

नैरुक्तों की परम्परा महर्षि यास्क से बहुत पूर्व ही आरम्भ हो चुकी थी । इसके सङ्केत भी हमें यास्क कृत निरुक्त में प्राप्त होते हैं । महर्षि यास्क के निरुक्त में अनेक ऐसे स्थल हैं जहाँ पूर्वाचार्यों द्वारा निर्वचन विद्या के सिद्धान्तों के प्रतिपादन का प्रमाण प्राप्त होता है । परन्तु वे सिद्धान्त मूलतः क्या थे, इस विषय में आधिकारिक ढङ्ग से कुछ कहने के लिए वे ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं । इस विषय में महर्षि यास्क द्वारा प्रतिपादित एकमात्र निरुक्त ही हमारे सम्मुख उपस्थित है । अतः उनके द्वारा वर्णित सिद्धान्त ही आज तक निर्वचन के सिद्धान्तों के रूप में वर्णित किए जाते हैं, जो कि इस प्रकार हैं –

१- महर्षि यास्क निर्वचन के सर्वप्रथम सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं - *'तद्येषु पदेषु स्वरसंस्कारौ समर्थौ प्रादेशिकेन विकारेणान्वितौ [१]स्यातां तथा तानि निर्ब्रूयात् ।'* [२] अर्थात् निर्वचन करते समय जब ऐसे पद समुपस्थित हों, जिनमें स्वर और धातु-प्रत्यय, लोप-आगम

१- कुछ विद्वानों द्वारा यहाँ 'गुणेनान्वितौ ' पाठ स्वीकार किया गया है ।

२- निरुक्त २.१ ।

आदि संस्कार व्याकरण शास्त्र की प्रक्रिया से स्वयं उपपन्न (अनुगत) हों – वे पद उसी प्रकार व्याकरण प्रक्रिया के द्वारा निर्वचनीय हैं । तात्पर्य यह है कि जिन पदों में प्रकृति प्रत्यय स्पष्ट हों तथा व्याकरणिक नियमों से अर्थ तक पहुँचना सम्भव हो तो ऐसे पदों के निर्वचन के लिए व्यर्थ कल्पना जाल नहीं बुनना चाहिए, बल्कि प्रक्रियानुसार सर्वाधिक स्पष्टता व सरलता से सम्भाव्य निर्वचन कर लेना चाहिए ।

२- महर्षि यास्क का द्वितीय सिद्धान्त उन पदों के निर्वचन से सम्बन्धित है जिनसे उपर्युक्त रीति से निर्वचन करना सम्भव न हो । वे कहते हैं— *' अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारेऽर्थ नित्यः परीक्षेत केनचिद्वृत्तिसामान्येन ।'* (निरुक्त २.१) । अर्थात् जहाँ कहीं अर्थ अन्वित न होता हो तथा शब्द व्याकरण प्रक्रिया से सिद्ध न होता हो तो ऐसी स्थिति में अर्थ को प्रधान मानकर उसकी किसी भी वृत्ति (क्रिया) की समानता के आधार पर धातु की कल्पना करके निर्वचन कर लेना चाहिए । वस्तुतः महर्षि यास्क का यह दृढ विश्वास है कि शब्द और अर्थ में नित्य सम्बन्ध है । कोई भी शब्द अर्थ रहित नहीं है भले ही उसका अर्थ स्पष्ट न हो, परन्तु शब्द में अर्थ निश्चित रूप से होता है । अतः शब्द में निहित उस अर्थ को अवश्य जानना चाहिए । महर्षि यास्क ने अपने ग्रन्थ में क्रिया के आधार पर अनेक निर्वचन भी प्रस्तुत किए हैं । यथा–'पृथिवी' का निर्वचन करते हुए वे कहते हैं— *' प्रथनात् पृथिवी ।'* पृथिवी के फैले होने को आधार मानकर उन्होंने उस अर्थ की साम्यता रखने वाली धातु से उसका निर्वचन कर दिया है। इसी प्रकार 'पर्व' शब्द मुख्यतया अमावस्या तथा पूर्णिमा के लिए आता है । ये दोनों पर्व शुक्ल तथा कृष्ण पक्ष को मिलाते हैं । इसलिए इस सन्धि की समानता से अङ्गों के जोड़ों को भी 'पर्व' (निरुक्त १.२०) कहा गया है ।

'ऊधस्' शब्द के विषय में भी इसी प्रक्रिया के दर्शन होते हैं । गाय का स्तन दुग्ध रस देने के कारण 'ऊधस्' कहलाता है, तथा इसी रसानुप्रदान की साम्यता के कारण रात्रि को 'ओस रूपी रस देने वाली' अर्थ को ध्यान में रखते हुए 'ऊधस्' कहा गया है । इसी प्रकार गाय के बछड़े को 'वत्स' कहा जाता है क्योंकि वह उसके दुग्ध रस का आहरण करता है । इसी रसाहरण

की समानता के आधार पर प्रातःकालीन सूर्य को भी 'वत्स' (निरुक्त २.२०) कहा जाता है क्योंकि उषाकाल के ओस बिन्दुओं को वह आहरित कर लेता है ।

३- महर्षि यास्क का निर्वचन का तृतीय सिद्धान्त है -*'अविद्यमाने सामान्येऽप्यक्षरवर्णसामान्यान्नि -र्ब्रूयात् । न त्वेव न निर्ब्रूयात् । न संस्कारमाद्रियेत । विशयवत्यो हि वृत्तयो भवन्ति ।'* (निरुक्त २.१) अर्थात् ऐसे पद जिनमें अर्थ की समानता भी विद्यमान नहीं हो, वहाँ किसी अक्षर या वर्ण, अर्थात् अकारादि स्वर तथा ककारादि व्यञ्जन की समानता से निर्वचन कर लें लेकिन निर्वचन से बचना नहीं चाहिए । ऐसे स्थलों में व्याकरण प्रदत्त नियमों (संस्कार) का आदर नहीं करें क्योंकि शब्दों की वृत्तियाँ अर्थ प्रक्रिया में संशययुक्त होती है ।

महर्षि यास्क का यह सिद्धान्त इस रूप में भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है कि महावैयाकरण महर्षि पाणिनि भी जब समस्त पदों की व्युत्पत्ति करने को उद्यत हुए तो अनेक पदों में इसी प्रकार की समस्याओं के परिणामस्वरूप उन्हें भी 'उणादयो बहुलम्' कहकर अनेक पदों के लिए उणादि का आश्रय ग्रहण करना पडा । बहुत से देशज या रूढ पदों के निर्वचन या व्युत्पत्ति के लिए भी इसी सिद्धान्त का आश्रय ग्रहण करना पडता है ।इसी को एक आचार्य ने इस प्रकार कहा है –

" वर्णागमौ वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ ।

धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ॥" निरु०२.२॥ अर्थात् वह निर्वचन पाँच प्रकार का कहा जाता है - १.वर्ण का आगम, २. वर्ण का आद्यन्त विपर्यय, ३. वर्ण विकार, ४. वर्ण नाश, ५. धातु का उस अर्थ के साथ अतिशय योग । क्योंकि वर्ण या अक्षर की समानता के आधार पर जब भी निर्वचन किया जाएगा, इन पाँचों में से कोई न कोई स्थिति उत्पन्न होगी ही। यथा – 'प्रत्तम', 'अवत्तम्' (निरुक्त २.१) आदि ।

४- महर्षि यास्क का चतुर्थ सिद्धान्त है— *'यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत।'* (निरु० २.१) । अर्थात् अर्थ के अनुसार विभक्तियों को परिवर्तित कर लें । तात्पर्य यह है कि वेदों में अर्थ के अनुसार विभक्ति तथा वचन का व्यत्यय बहुत अधिक पाया जाता है । इस व्यत्यय के लिए सम्भावना की जा सकती है कि सम्भवतः उस समय तक विभक्तियों तथा वचनों के प्रयोग में कट्टरता नहीं आई

थी । अर्थात् शब्दों के रूप अनेक विभक्तियों और वचनों में समान ही थे परन्तु अब ऐसा नहीं होता है । ऐसी स्थिति में आधुनिक रूप सन्दर्भों के अनुसार अर्थ को प्रधानता देते हुए पदों का रूप परिवर्तित कर लेना चाहिए ।

५- निर्वचन का एक अन्य सिद्धान्त यह भी है कि जहाँ स्वर से अव्यवहित अन्तस्थ य,र,ल,व में से कोई वर्ण धातु के मध्य में होता है, वह धातु द्विस्वभावात्मक होती है, ऐसा आचार्यों का कथन है । ऐसी स्थिति में धातु के एक स्वभाव से शब्द सिद्धि न होने पर दूसरे से निर्वचन की इच्छा करें । उनमें से भी कभी कई धातुएँ सम्प्रसारण रूप में अल्प प्रयोग वाली होती हैं, जैसे – अति, मृदु, पृथु, पृषत, कुणारु आदि ।[१] तात्पर्य है कि निर्वचन करते समय इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि अजादि स्वर से आगे या पीछे यदि य,र,ल,व वर्णों में से कोई वर्ण धातु के मध्य में आ जाए तो उस धातु के दो स्वरूप (स्वभाव) हो जाते हैं । एक यथा-पठित असम्प्रसारण रूप और दूसरा सम्प्रसारण । जैसे 'यज्' का सम्प्रसारण रूप 'इज्', 'वप्' का 'उप, 'ग्रह' का 'गृह' है । यदि कहीं धातु के असम्प्रसारण रूप से शब्द सिद्धि न हो रही हो तो वहाँ सम्प्रसारण रूप के प्रयोग से शब्द सिद्धि अथवा निर्वचन करना चाहिए । जैसे—इष्टवान्, इष्ट्वा, इष्टः । ये 'इज' (सम्प्रसारण) धातु के रूप हैं, और यष्ट्वा, यष्टु, यज्मानः । ये 'यज्' (असम्प्रसारण) धातु के रूप हैं ।

निरुक्त प्रक्रिया में इस बात का भी ध्यान रखने का आग्रह है कि कुछ धातुएँ सम्प्रसारण रूप में कम प्रयुक्त होती हैं और कुछ अधिक । जैसे –अव्, म्रद, प्रथ, प्रुष, कण् – इन धातुओं के ऊति, मृदु, पृथु, पृषत, कुणारु आदि स्वल्प ही सम्प्रसारण रूप प्रयुक्त होते हैं । इनमें 'ऊति' पद को यद्यपि आचार्य पाणिनि ने 'अव' को 'ऊठ्' आदेश (६.४.२०) करके 'ऊति' की सिद्धि की है, किन्तु महर्षि यास्क ने इसे 'अव' धातु का 'अउ' सम्प्रसारण रूप मानकर पररूप दीर्घ एकादेश करके 'ऊति' सिद्ध किया है । इसी प्रकार 'म्रद्' से सम्प्रसारण 'मृदु', 'प्रथ' से 'पृथ'>पृथिवी, प्रुष>पृष>पृषत, क्कण>कुण>कुणारु शब्दसिद्धि की है।

१- तद् यत्र स्वरादनन्तरान्तस्थान्तर्धातु .... इति ।(निरुक्त २.२) ।

६- शब्दों के निर्वचन में छठी बात यह भी है कि लौकिक धातुओं से वैदिक कृदन्त प्रयोग मिल जाते हैं, जैसे – दमूनस् , क्षेत्रसाधस् इत्यादि और वैदिक धातुओं से उष्ण, घृत इत्यादि लौकिक कृदन्त शब्द सिद्ध किए जाते हैं ।[१]

लौकिक भाषा में दाम्यति, दमयति, दान्तः आदि में 'दम्' (उपशमें) धातु का प्रयोग बहुत अधिक पाया जाता है, उसी से 'ऊनसि' (उणादि) प्रत्यय करने पर वैदिक शब्द 'दमूनस' बनता है। इसका अर्थ है 'दान्तः' । इसी प्रकार *'क्षेत्रे साधयतीति क्षेत्रसाधाः'* में 'साध' धातु से 'असुन्' (उणादि ४.१८९) प्रत्यय है । साधस् का अर्थ है साधक,अतः 'क्षेत्रसाधाः' का अर्थ हुआ 'क्षेत्र को साधने वाला' ।

तात्पर्य यह है कि अनेक धातुएँ क्रिया के रूप में लोक से जितनी प्रसिद्ध हैं, नाम के रूप में उतनी नहीं, और कुछ धातुएँ नाम के रूप में जितनी प्रसिद्ध हैं, धातु के रूप में उतनी नहीं । अतः वैदिक पदों में प्रयुक्त इन विशेषताओं की ओर निर्वचन करते समय विशेष ध्यान रखने की आवश्यकता होती है ।

७- निर्वचन करते समय यह तथ्य भी दृष्टिगम्य है कि कुछ देशों में अथवा कुछ स्थानों पर धातु का प्रकृति (आख्यातिक) रूप व्यवहृत होता है तो कुछ स्थानों पर विकृति (नामिक) रूपों का प्रचलन है ।[२] उस सन्दर्भ में महर्षि यास्क द्वारा प्रस्तुत उदाहरण है –कम्बोज देश में गत्यर्थक धातु 'शव' अपने प्रकृति रूप में ही व्यवहृत होता है जबकि आर्यावर्त में इसका विकृत रूप 'शव' (मृत देह) व्यवहृत होता है । ऐसे ही वे कहते हैं-*' दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु।'* (निरुक्त २.२) । इस प्रकार महर्षि यास्क ने निर्वचन सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है ।

आचार्य देवराज यज्वा ने स्पष्ट रूप से किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन अपने 'निघण्टु निर्वचनम्' में नहीं किया है तथापि उनके द्वारा प्रणीत इस ग्रन्थ के अनुशीलन से जो तथ्य उद्धा-

---

१-अथापि भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमाः ... घृतम् इति ।(निरुक्त २.२) ।

२- अथापि प्रकृतय एवैकेषु भाष्यन्ते, विकृतय एकेषु । (निरुक्त २.२) ।

टित होते हैं, वे इस प्रकार हैं –

१- 'निघण्टु निर्वचनम्' में 'पृथिवी नामानि' की व्याख्या करते हुए आचार्य देवराज यज्वा ने 'अदिति' (१.१.१४) की व्युत्पत्ति प्रस्तुत करते हुए महर्षि यास्क के *'न संस्कारमाद्रियेत अर्थनित्यः परीक्षेत'* (निरुक्त २.१) को उद्धृत किया है । इसके अतिरिक्त यज्वा द्वारा यही सिद्धान्त नै०टी०प० में पृष्ठ सङ्ख्या २५९ पर शेपः (१९), वैतसः (२०) की व्याख्या करते समय *'अर्थनित्यः परीक्षेत न संस्कारमाद्रियेत'* (निरुक्त२.१) के रूप में उद्धृत है । इसके अतिरिक्त इतने स्पष्ट शब्दों में यज्वा द्वारा कहीं पर भी महर्षि यास्क का कोई अन्य सिद्धान्त उद्धृत नहीं है । इससे यह ज्ञात होता है कि आचार्य देवराज यज्वा को निर्वचन करते समय सर्वाधिक सहायक यही सिद्धान्त प्रतीत हुआ होगा, अन्यथा वे अन्य सिद्धान्तों की भी चर्चा अवश्य करते । यद्यपि उन्होंने व्युत्पत्ति बताते हुए महर्षि यास्क के इस सिद्धान्त पर (निरुक्त) आश्रित लोप, आगम, वर्णविपर्यय आदि के साथ-साथ महर्षि यास्क के सम्प्रसारण सिद्धान्त का यथावसर अनुपालन किया है। यथा — इयक्षति, उवथ्यः आदि ।

२- आचार्य यज्वा 'द्युमत' (नि० नि० १.१६.११) की व्याख्या करते हुए कहते हैं, *'समाम्नाये यस्य पदार्थस्य यद् वाचकमाख्यातं नाम च तत्सहैवान्यत्रापि पठ्यते । तथापि – कान्तिकर्मसु (नि० नि० २.६) उशिगादि, व्याप्तिकर्मसु (नि० नि० २.१८) आप्नुवान*[1] *इत्यादि, महन्नामसु (नि० नि० ३.३) ववक्षिथ, विवक्षसे, पश्यतिकर्मसु (नि० नि० ३.११) विचर्षणिरित्यादि । एवमिहापि द्युमदिति नामपदस्य धातुमध्ये पाठः किञ्चित् द्योततेर्विकृतत्वाद्विशेश्चानेकार्थत्वात् ज्वलनार्थत्वख्यापनार्थम्'* अर्थात् समाम्नाय में जिस पदार्थ का जो वाचक आख्यात और नाम है उसके साथ ही अन्यत्र भी पढ़ा जाता है । वैसे ही कान्तिकर्म (नि० नि० २.६) में 'उशिक्' (१२) आदि, व्याप्तिकर्म (नि० नि० २.१८) में आप्नुवान इत्यादि, महत् नामों (नि० नि० ३.३) में ववक्षिथ, विवक्षसे , पश्यति कर्म

१- यहाँ उल्लेख्य है कि निघण्टु २.१८ पर व्याप्तिकर्मक दस नामों में 'आप्नुवान' पद है ही नहीं।व्याप्तिकर्मक नाम इस प्रकार हैं – १. इन्वति, २. नक्षति, ३. आक्षाणः, ४. आनट्, ५.आष्ट, ६. आपानः, ७. अशत्, ८. नशत् ,९. आनश, १०. अश्नुते । आप्नुवान पद सम्भवतः किसी अन्य निघण्टु कोष में रहा होगा ।

(नि०नि० ३.११) में विचर्षणिः इत्यादि। इस प्रकार यहाँ भी 'द्युमत्' नामपद का धातुपाठ में कुछ विकार होने से 'द्योतते' तथा अनेकार्थक होने से 'दिवेः' पद ज्वलनार्थक ही समझे जाते हैं ।

तात्पर्य यह है कि आचार्य यज्वा के कथनानुसार जो भी पद वेदों में जिस नाम या आख्यात का वाचक होगा वह तथा उससे बनने वाले समस्त आख्यात और नामपद उसी अर्थ के वाचक होते हैं । जैसे – 'द्युमत्' पद में 'द्युत्' धातु है, जो कि दीप्त्यर्थक है । अतः उससे बनने वाले अन्य 'द्योततेः', 'दिवेः' आदि पद जहाँ कहीं भी आएंगे ज्वलतकर्म में पठित होने के कारण सर्वत्र ज्वलनार्थक या दीप्त्यर्थक ही होंगे ।

इस प्रकार आचार्य यज्वा द्वारा प्रतिपादित यह नियम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है ।

३- नैघण्टुक टीका परिशिष्ट पृ० सं० २६० पर 'सिषक्तु' की व्याख्या करते हुए आचार्य यज्वा लिखते हैं *'वैयाकरणसिद्धान्तप्रसिद्ध्यर्थमेवमवोचत्, परमार्थस्तुधात्वर्थप्रतिपादनपरतयैवाख्यात-पदोपादानमर्थाभिगमत्वञ्च । अतश्चैतदुक्तं भवति– सिषक्तु सचत इति सेवार्थौ धातू इति । तथाहि- 'भावप्रधानमाख्यातम्' (निरुक्त १.१) इति हि स्वासिद्धान्तः । सिषक्तु सचतेः ।'* अर्थात् 'सिषक्त्विति कर्तुरभिधानम् ।.....' व्याकरण सिद्धान्त की प्रसिद्धि के लिए ही ऐसा कहा गया है । परमार्थतः तो धात्वर्थ के प्रतिपादन की दृष्टि से ही आख्यात पद का उपादान होता है और अर्थ का अभिज्ञान भी होता है ।

तात्पर्य यह है कि आचार्य देवराज यज्वा वैयाकरण सिद्धान्तों के अनुसार 'समस्त पद आख्यातज हैं'–इस पक्ष के प्रबल समर्थक हैं तथा आख्यात पद से उनका तात्पर्य महर्षि यास्क द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त 'भावप्रधानाख्यातम्' (निरुक्त १.१) ही है । यहाँ पर आचार्य यज्वा ने 'भाव' को स्पष्ट नहीं किया है कि उनके मत में भाव क्या है ? अतः वे इस विषय पर भी महर्षि यास्क के ही समर्थक प्रतीत होते हैं तथा उन्हें *'भवतीति भावस्य'* (निरुक्त १.१) भाव की यही परिभाषा अभिमत होगी, इसमें सन्देह नहीं है ।

आचार्य यज्वा का समस्त बल निघण्टु पदों की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या प्रस्तुत करने में है । इसीलिए वे पदों का निर्वचन करने से पूर्व लगभग सभी स्थानों पर प्रकृति प्रत्यय की

कल्पना करके पदों की व्युत्पत्ति स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं तथा इसके पश्चात् अर्थस्पष्टीकरण के लिए निर्वचन तत्पश्चात् प्रमाणस्वरूप निगम भी प्रस्तुत करते हैं । परन्तु व्याकरण के प्रति उनका मोह स्पष्ट ही है जैसे कि पदों की व्युत्पत्तियाँ देने के लिए उन्होंने अष्टाध्यायी (सूत्रपाठ, गणपाठ, वार्तिक सहित), उणादि, दशपाद्युणादि, सरस्वती कण्ठाभरणम्, सुबोधिनी, पदमञ्जरी आदि व्याकरण ग्रन्थों से सहायता ली है तथा व्याकरण की एक समृद्ध परम्परा का परिचय भी दिया है । परन्तु निर्वचन के प्रति उनका उत्साह किञ्चित मन्द प्रतीत होता है क्योंकि निर्वचनों के क्रम में यज्वा ने स्कन्द, माधव, क्षीरस्वामी, भट्ट भास्कर मिश्र आदि के निर्वचनों को ही प्रस्तुत कर के अपने कर्त्तव्य की इति श्री कर ली है ।